ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्
गायत्री की २४ शिक्षाएँ
श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री की २४ शिक्षाएँ

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ६.०० रुपये

गायत्री की २४ शिक्षाएँ

ॐ भूर्भुवः स्वः

भूर्भुवःस्वस्त्रयो लोका व्याप्तमोम्ब्रह्म तेषु हि।
स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेत्ति विचक्षणः॥ १ ॥

भूः, **भुवः** और **स्वः** ये तीन लोक हैं, इन तीनों लोकों में ओ३म् ब्रह्म व्याप्त है। जो बुद्धिमान उस ब्रह्म को जानता है, वह ही वास्तव में ज्ञानी है।

परमात्मा का वैदिक नाम 'ॐ' है। ब्रह्म की स्फुरणा का सूक्ष्म प्रकृति पर निरंतर आघात होता रहता है। इन्हीं आघातों के कारण सृष्टि में गतिशीलता उत्पन्न होती रहती है। काँसे के बरतन पर जैसे हथौड़ी की हलकी चोट मारी जाए तो वह बहुत देर तक झनझनाता रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के मिलन-स्पंदन स्थल पर ॐ की झंकार होती रहती है। इसलिए यही परमात्मा का स्वयं घोषित नाम माना गया है।

यह ॐ तीनों लोकों में व्याप्त है। **भूः** पृथ्वी, **भुवः** पाताल, **स्वः** स्वर्ग—यह तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं। भूः शरीर, भुवः संसार, स्वः आत्मा; यह तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा-स्थल हैं। इन सभी स्थलों को, निखिल विश्व-ब्रह्मांड को भगवान का विराट रूप समझकर वही आध्यात्मिक उच्च भूमिका प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो गीता के ११वें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाकर प्राप्त कराई थी। परमात्मा को सर्वत्र, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वात्मा देखने वाला मनुष्य माया, मोह, ममता, संकीर्णता, अनुदारता, कुविचार एवं कुकर्मों की अग्नि में झुलसने से बच जाता है और हर घड़ी परमात्मा के दर्शन करने के परमानंद सुख में निमग्न रहता है। ॐ भूः भुवः स्वः का

तत्त्वज्ञान समझ लेने वाला ब्रह्मज्ञानी एक प्रकार से जीवन-मुक्त ही जो जाता है।

तत्—तत्त्वज्ञास्तु विद्वांसो ब्राह्मणाः स्वतपोबलैः।
अन्धकारमपाकुर्युः लोकादज्ञानसम्भवम्॥ २॥

तत्त्वदर्शी विद्वान ब्राह्मण अपने एकत्रित तप के द्वारा संसार से अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को दूर करे।

ब्राह्मण वे हैं जो तत्त्व को, वास्तविकता को, परिणाम को देखते हैं, जिन्होंने अपनी पढ़ाई को भाषा, साहित्य, शिल्पकला, विज्ञान आदि की पेट भरू शिक्षा तक ही सीमित न रखकर जीवन का उद्देश्य, आनंद और साफल्य प्राप्त करने की 'विद्या' भी सीखी है। शिक्षित तो गली-कूँचों में मक्खी-मच्छरों की तरह भरे पड़े हैं, पर विद्वान कोई विरले ही होते हैं। जो विद्वान हैं, वे ही ब्राह्मण हैं।

भगवान ने जिन्हें तत्त्वदर्शी और विद्वान बनने की सुविधा एवं प्रेरणा दी है, उन ब्राह्मणों को अपनी जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिए, क्योंकि वे सबसे बड़े धनी हैं। लोग व्यर्थ ही ऐसा सोचते हैं कि धन की अधिकता ही सुख का कारण है। सच बात यह है कि बिना सद्ज्ञान के कोई मनुष्य सुख-शांति का जीवन नहीं बिता सकता, चाहे वह करोड़ों रुपयों का स्वामी क्यों न हो! भारतवासी सद्ज्ञान का महत्त्व आदिकाल से समझते आए हैं, इसीलिए यहाँ सद्ज्ञान के, ब्रह्मज्ञान के धनी ब्राह्मणों की मान-प्रतिष्ठा सबसे अधिक होती रहती है। आज इस गए बीते जमाने में भी उसकी चिह्नपूजा किसी न किसी रूप में ब्राह्मणों से अनधिकारी वंशजों तक को प्राप्त हो जाती है।

ब्राह्मणत्व विश्व का सबसे बड़ा धन है। रत्नों का भंडार बढ़िया, कीमती, मजबूत तिजोरी में रखा जाता है। जो शरीर तपःपूत

है, तपस्या की, संयम की, तितिक्षा की, त्याग की अग्नि में तपा-तपाकर जिस तिजोरी को भली प्रकार मजबूती से गढ़ा गया है, उसी में ब्राह्मणत्व रहेगा और ठहरेगा। जो असंयमी, भोगी, स्वार्थी, तप-विहीन हैं, वे शास्त्रों की तोता-रटंत भले ही करते रहें, पर उस बकवाद के अतिरिक्त अपने में ब्राह्मणत्व को भली प्रकार सुरक्षित एवं स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए ब्राह्मण को, सद्ज्ञान के धनी को अपने को तपःपूत बनाना चाहिए। तप और ब्राह्मणत्व के सम्मिश्रण से ही सोना सुगंध की उक्ति चरितार्थ होती है।

ब्राह्मण को भूसुर कहा जाता है। भूसुर का अर्थ है पृथ्वी का देवता। देवता वह है जो दे। ब्राह्मण संसार के सर्वश्रेष्ठ धन का, सद्ज्ञान का धनपति होता है। वह देखता है कि जो धन उसके पास अटूट भंडारों में भरा हुआ है, उसी के अभाव के कारण सारी जनता दुःख पा रही है। अज्ञान से, अविद्या से बढ़कर दुःखों का कारण और कोई नहीं। जैसे भूख से छटपटाते हुए, करुण-क्रंदन करते हुए मनुष्यों को देखकर सहृदय धनी व्यक्ति उन्हें कुछ दान दिए बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार अविद्या के अंधकार में भटकते हुए जनसमूह को ब्राह्मण अपनी सद्ज्ञान संपदा से लाभ पहुँचाता है। यह कर्त्तव्य आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह ब्राह्मण की आध्यात्मिक जिम्मेदारी है।

गायत्री का प्रथम शब्द 'तत्' ब्राह्मणत्व की महान जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है। जिसकी आत्मा जितने अंशों में तत्त्वदर्शी, विद्वान और तपस्वी है, वह उतने ही अंश में ब्राह्मण है। यह ब्राह्मणत्व जिस वर्ण, कुल, वंश के मनुष्य में निवास करता है, उसी का यह कर्तव्य-धर्म है कि अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को दूर करने के लिए जो कुछ कर सकता हो, अवश्य करता रहे।

स—सत्तावन्तस्तथा शूराः क्षत्रिया लोकरक्षकाः।
अन्यायाशक्तिसम्भूता ध्वंसयेयुर्हि त्वापदः॥ ३॥

सत्तावान और संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें।

जन बल, शरीर -बल, बुद्धि-बल, सत्ता-शक्ति, पद, शासन, गौरव, बड़प्पन, संगठन, तेज, पुरुषार्थ,चातुर्य, साधन, साहस, शौर्य— यह क्षत्रियत्व के लक्षण हैं। जिनके पास इन वस्तुओं में से जितनी अधिक मात्रा है, उतने ही अंशों में उसका क्षत्रियत्व बढ़ा हुआ है।

देखा गया है कि यह क्षत्रियत्व जब अनधिकारियों के हाथ में पहुँच जाता है तो इसमें उन्हें अहंकार और मद बढ़ जाता है। अहंकार को बड़प्पन समझकर वे उसकी रक्षा के लिए अनेक प्रकार के अनावश्यक खरच और आडंबर बढ़ाते हैं। उसकी पूर्ति के लिए अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है, जिसे वे अनीति, अन्याय, शोषण, अपहरण आदि द्वारा पूरा करते हैं, दूसरों को सताने में अपना पराक्रम समझते हैं। व्यसनों की अधिकता होती जाती है और इंद्रिय-लिप्सा में प्रवृत्ति बढ़ती है। ऐसी दशा में वह क्षत्रियत्व उस व्यक्ति की आत्मा को ऊँचा उठाने और तेजस्वी महापुरुष बनाने की अपेक्षा अहंकारी, दंभी, अत्याचारी, व्यसनी और दुराचारी बना देता है। ऐसे दुरुपयोग से बचना ही उचित है।

गायत्री का 'स' अक्षर कहता है कि हे सत्तावानों! तुम्हें सत्ता इसलिए दी गई है कि शोषितों और निर्बलों को हाथ पकड़कर ऊँचा उठाओ, उनकी सहायता करो और जो दुष्ट उन्हें निर्बल समझकर सताने का साहस करते हैं उन्हें अपनी शक्ति से परास्त करो। बुराइयों से लड़ने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए ही ईश्वर शक्ति देता है उसका उपयोग इसी दिशा में होना चाहिए।

वि—वित्तशक्त्या तु कर्तव्या उचिताभावपूर्तयः।
न तु शक्त्या तया कार्यं दर्पौद्धत्यप्रदर्शनम्॥ ४॥

धन की शक्ति द्वारा तो उचित अभावों की पूर्ति करनी चाहिए। उस शक्ति द्वारा घमंड और औद्धत्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

विद्या और सत्ता की भाँति धन भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इसका उपार्जन इसलिए आवश्यक है कि अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति की जा सके। शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के विकास के लिए और सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए धन का उपयोग होना चाहिए और इसीलिए उसे कमाया जाना चाहिए।

पर कई व्यक्ति प्रचुर मात्रा में धन जमा करने में अपनी प्रतिष्ठा अनुभव करते हैं। अधिक धन का स्वामी होना उनकी दृष्टि में कोई 'बहुत बड़ी बात' होती है। अधिक कीमती सामान का उपयोग करना, अधिक अपव्यय, अधिक भोग, अधिक विलास उन्हें जीवन की सफलता के चिह्न मालूम पड़ते हैं। इसलिए जैसे भी बने वैसे धन कमाने की उनकी तृष्णा प्रबल रहती है। इसके लिए वे धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विचार करना भी छोड़ देते हैं। धन में उनकी इतनी तन्मयता होती है कि स्वास्थ्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, आत्मोन्नति, लोक-सेवा, ईश्वराराधन आदि सभी उपयोगी दिशाओं से वे मुँह मोड़ लेते हैं। धनपतियों को एक प्रकार का नशा सा चढ़ा रहता है,जिससे उनकी सद्‌बुद्धि, दूरदर्शिता और सत्-असत् परीक्षणी प्रज्ञा कुंठित हो जाती है। धनोपार्जन की यह दशा निंदनीय है।

धन कमाना आवश्यक है इसलिए कि उससे हमारी वास्तविक आवश्यकताएँ उचित सीमा तक पूरी हो सकें। इसी दृष्टि से प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक लोग धन, कमावें, गायत्री का वि अक्षर वित्त के धन के संबंध में यही संकेत करता है।

तु—तुषाराणां प्रपातेऽपियत्नो धर्मस्तु चात्मनः।
महिमा च प्रतिष्ठा च प्रोक्ता परिश्रमस्य हि ॥ ५ ॥

तुषारापात में भी प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है। श्रम की महिमा और प्रतिष्ठा अपार है, ऐसा कहा गया है।

मनुष्य जीवन में विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, विपरीत परिस्थितियाँ, हानियाँ और कष्ट की घड़ियाँ भी आती ही रहती हैं। जैसे रात और दिन समय के दो पहलू हैं वैसे ही संपदा और विपदा, सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये हैं। दोनों के लिए ही मनुष्य को धैर्यपूर्वक तैयार रहना चाहिए। न विपत्ति में छाती पीटे और न संपत्ति में इतराकर तिरछा चले।

कठिन समय में मनुष्य के चार साथी हैं—(१) विवेक, (२) धैर्य, (३) साहस, (४) प्रयत्न। इन चारों को मजबूती से पकड़े रहने पर बुरे दिन धीरे-धीरे निकल जाते हैं और वे जाते समय अनेक अनुभवों, गुणों, योग्यताओं तथा शक्तियों का उपहार दे जाते हैं। चाकू पत्थर पर घिसे जाने पर तेज होता है, सोना अग्नि में पड़कर खरा सिद्ध होता है, मनुष्य कठिनाइयों में पड़कर इतनी शिक्षा प्राप्त करता है जितनी कि दस गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते। इसलिए कष्ट से डरना नहीं चाहिए वरन उपर्युक्त चार साधनों द्वारा संघर्ष करके उसे परास्त करना चाहिए।

परिश्रम, प्रयत्न, कर्त्तव्य यह मनुष्य के गौरव और वैभव को बढ़ाने वाले हैं। आलसी, भाग्यवादी, कर्महीन, संघर्ष से डरने वाले, अव्यवहारिक मनुष्य प्रायः सदा ही असफल होते रहते हैं। जो कठिनाइयों पर विजयी होना और आनंदमय जीवन का स्वादन करना चाहते हैं, उन्हें गायत्री रस का 'तु' शब्द उपदेश करता है कि प्रयत्न करो, परिश्रम करो, कर्त्तव्य-पथ पर बहादुरी से डटे रहो,

क्योंकि पुरुषार्थ की महिमा अपार है। 'पुरुष' कहाने का अधिकारी वही है जो पुरुषार्थी है।

व—वद नारीं विना कोऽन्यो निर्माता मनुसन्ततेः।
महत्त्वं रचनाशक्तेः स्वस्याः नार्या हि ज्ञायताम्॥ ६ ॥

नारी के बिना मनुष्य को बनाने वाला दूसरा और कौन है अर्थात मनुष्य की निर्मात्री नारी ही है। नारी को अपनी रचना शक्ति का महत्त्व समझना चाहिए।

जनसमाज दो भागों में बँटा हुआ है (१) नर (२) नारी। नर की उन्नति, सुविधा एवं सुरक्षा के लिए काफी प्रयत्न किया जाता है परंतु नारी हर क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। फलस्वरूप हमारा आधा समाज, आधा संसार, आधा परिवार, आधा जीवन पिछड़ा हुआ रह जाता है। जिस रथ का एक पहिया बड़ा, एक छोटा हो, जिस हल में एक बैल बड़ा दूसरा बहुत छोटा जुता हो, उसके द्वारा संतोषजनक कार्य नहीं हो सकता। हमारा देश, समाज, समुदाय तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहा जा सकता जब तक कि नारी को भी नर के समान ही अपनी क्रियाशीलता एवं प्रतिभा प्रकट करने का अवसर प्राप्त न हो।

नारी से ही नर उत्पन्न होता है। बालक का आदिगुरु उसकी माता होती है। पिता के वीर्य की एक बूँद ही निमित्त होती है, बाकी बालक के सब अंग-प्रत्यंग माता के रक्त से ही बनते हैं। उस रक्त में जैसी स्वस्थता, प्रतिभा, विचारधारा होगी उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा। नारियाँ यदि अस्वस्थ, अशिक्षित, अविकसित, कूपमडूंक और पिछड़ी हुई रहेंगी तो उनके द्वारा उत्पन्न किए हुए बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे। ऊसर खेत में अच्छी फसल पैदा नहीं हो सकती। अच्छे फलों का बाग लगाना है तो अच्छी भूमि की आवश्यकता होगी।

गायत्री का 'व' शब्द कहता है कि यदि मनुष्य जाति अपनी उन्नति चाहती है तो उसे पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में प्रतिभावान, सुविकसित बनाना चाहिए। तभी नर समुदाय में सबलता, सूक्ष्मता, समृद्धि, सद्बुद्धि, सद्गुण और महानता के संस्कारों का विकास हो सकता है। नारी को पिछड़ी रखना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना है।

रे—रेवेव निर्मला नारी पूजनीया सतां सदा।
यतो हि सर्व लोकेऽस्मिन् साक्षाल्लक्ष्मीर्मता बुधैः ॥ ७ ॥

सज्जन पुरुष को हमेशा नर्मदा नदी के समान निर्मल नारी की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि विद्वानों ने उसी को इस संसार में साक्षात् लक्ष्मी माना है।

स्त्री लक्ष्मी का अवतार है। जहाँ नारी सुलक्षिणी है, बुद्धिमती है, सहयोगिनी है वहाँ गरीबी होते हुए भी अमीरी का आनंद बरसता रहता है। धन-दौलत निर्जीव लक्ष्मी है, किंतु स्त्री लक्ष्मीजी की सजीव प्रतिमा है। उसका यथोचित आदर, सत्कार और पारितोषण होना चाहिए।

जैसे नर्मदा नदी का जल सदा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को निर्मल अंतःकरण दिया है। परिस्थिति, दोषों के कारण अथवा दुष्ट संगति से कभी-कभी उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर इन कारणों को बदल दिया जाए तो नारी-हृदय पुनः अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है। स्फटिकमणि को रंगीन मकान में रखा जाए या उसके निकट कोई रंगीन पदार्थ रख दिया जाए तो वह मणि भी रंगीन छाया के कारण रंगीन दिखाई पड़ने लगती है। परंतु पीछे जब उन कारणों को हटा दिया जाए तो वह शुद्ध, निर्मल, शुभ्रमणि ही दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार नारी जब बुरी परिस्थितियों में फँसी है, तब बुरी दिखाई देती है, उस परिस्थिति का अंत होते ही वह निर्मल एवं निर्दोष हो जाती है।

वैधव्य, किसी की मृत्यु, घाटा आदि दुर्घटनाएँ घटित होने पर उसे नव आगंतुक वधू के भाग्य का दोष बनाना नितांत अनुचित है। ऐसी घटनाएँ होतव्यता के अनुसार होती हैं। नारी तो लक्ष्मी का अवतार होने से सदा ही कल्याणी और मंगलमयी है। गायत्री का शब्द 'रे' नारी सम्मान की अभिवृद्धि चाहता है ताकि लोगों को लक्ष्मी का मंगलमय वरदान प्राप्त हो।

णि—न्यस्यति ये नराः पादान् प्रकृत्याज्ञानुसारतः।
स्वस्थाः सन्तस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि॥ ८॥

जो मनुष्य प्रकृति की आज्ञानुसार पैरों को रखते हैं अर्थात प्रकृति की आज्ञानुसार चलते हैं, वे मनुष्य स्वस्थ रहते हुए निश्चय ही रोगों से मुक्त हो जाते हैं।

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है। अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, बनावटी, आडंबर और विलासिता से भरा हुआ जीवन बिताने से लोग बीमार बनते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

(१)भूख लगने पर, खूब चबाकर, प्रसन्न चित्त से, थोड़ा पेट खाली रखकर भोजन करना, (२) फल, शाक, दूध, दही, छिलके समेत अन्न और दालें जैसे ताजे सात्त्विक आहार लेना, (३) नशीली चीजें, मिर्च, मसाले, चाट, पकवान, मिठाइयाँ, मांस आदि अभक्ष्यों से बचना। (४) सामर्थ्य के अनुकूल श्रम एवं व्यायाम करना, (५) शरीर, वस्त्रों, मकान और प्रयोजनीय सामान की भली प्रकार सफाई रखना, (६) रात को जल्दी सोना, प्रातःकाल जल्दी उठना, (७) मनोरंजन और देशाटन, निर्दोष, विनोद के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त करते रहना, (८) कामुकता, चटोरपन, अन्याय, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, चिंता, क्रोध, पाप आदि के कुविचारों से मन को हटाकर

सदा प्रसन्नता और सात्त्विकता के सद्‌विचारों में रमण करना, (९) स्वच्छ जलवायु का सेवन, (१०) उपवास, एनिमा, फलाहार, जल, मिट्‌टी आदि प्राकृतिक उपचारों से रोग-मुक्ति का उपाय करना।

यह दस नियम ऐसे हैं, जिन्हें अपनाकर प्राकृतिक जीवन बिताने से खोए हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना और प्राप्त स्वास्थ्य को सुरक्षित एवं उन्नत बनाना बिलकुल सरल है। गायत्री का 'न्य' शब्द यही उपदेश करता है।

य—यथेच्छति नरस्त्वन्यैः सदान्येभ्यस्तथाचरेत्।
नम्रः शिष्टः कृतज्ञश्च सत्यसाहाय्यवान् भवेत्॥ ९॥

मनुष्य दूसरे के साथ उस प्रकार का आचरण करे, जैसा वह दूसरों द्वारा चाहता है और उसे नम्र, शिष्ट, कृतज्ञ और सचाई के साथ सहयोग की भावना वाला होना चाहिए।

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? उसकी कसौटी यह है कि हम दूसरों से जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हैं, वैसा ही आचरण स्वयं भी दूसरों के साथ करें। दुनिया कुएँ की आवाज की तरह है। कुएँ में मुँह करके जैसी वाणी हम बोलेंगे, बदले में वैसी ही प्रतिध्वनि दूसरी ओर से आएगी।

हर एक मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उससे नम्र बोलें, सभ्य व्यवहार करें, उसकी कोई चीज न चुरावें, विपत्ति पड़ने पर सहायता करें, ईमानदारी से बरतें, कोई भूल हो जाए तो उसे सहन कर लें, मार्ग में कोई रोड़ा न अटकावें, उसकी बहन-बेटियों पर कुदृष्टि न डालें तथा समय-समय पर उदारता एवं सहयोग की भावना का परिचय दें। जब हम दूसरों से ऐसा व्यवहार चाहते हैं तो हमारे लिए भी यह उचित है कि वैसा ही व्यवहार दूसरों से करें। कारण यह है कि सदा ही क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यदि हम बुराई करेंगे तो दूसरों के मन पर उसकी छाप पड़ेगी, प्रतिक्रिया

होगी और उनमें से भी वैसे ही विचार तथा व्यवहार उत्पन्न होंगे। यदि यह बुरी शृंखला चल पड़ी तो अपने लिए तथा अन्यों के लिए इसका बुरा प्रतिफल होगा और अगर यह शृंखला अच्छी चली तो उससे पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सद्व्यवहार तथा सद्भावों की प्रतिक्रिया होगी जो अपने लिए ही नहीं, अन्यों के लिए भी सुखकर होती है। यदि लोग अपने विचार और कार्यों में वैसे ही तत्त्व भर लें जैसा कि दूसरों में होने की आशा करते हैं तो संसार में सुख-शांति की स्थापना हो सकती है।

गायत्री का अंतिम अक्षर 'य' शास्त्रकारों की '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' उक्ति का उद्घोष करता है। इसे क्रियात्मक रूप में लाना गायत्री शिक्षा की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाना है।

भ—भवोद्विग्नमना नैव हृदुद्वेगं परित्यज।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शान्तं सन्तुलितं मनः॥ १०॥

मानसिक उत्तेजना को छोड़ दो। सभी आवश्यकताओं में मन को शांत और संतुलित रखो।

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और वह ज्वर अनेक दुष्परिणामों को पैदा कर सकता है, वैसे ही उद्वेग, आवेश, उत्तेजना, मद, आतुरता आदि लक्षण मानसिक ज्वर के हैं। आवेश का अंधड़-तूफान जिस समय मन में आता है उस समय ज्ञान, विचार, विवेक, सबका लोप हो जाता है और उस सन्निपात से ग्रस्त व्यक्ति अंड-बंड बातें बकता है, न करने लायक अस्त-व्यस्त क्रियाएँ करता है। यह स्थिति मानव जीवन में सर्वथा अवांछनीय है।

विपत्ति पड़ने पर लोग चिंता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध, कायरता आदि विषादात्मक आवेश से ग्रस्त हो जाते हैं और संपत्ति बढ़ने पर अहंकार, मद, मत्सर, अति हर्ष, अमर्यादा,

नास्तिकता, अतिभोग, ईर्ष्या, द्वेष आदि विध्वंसक उत्तेजनाओं में फँस जाते हैं। कई बार लोभ और भोग का आकर्षण उन्हें इतना लुभा लेता है कि वे आँखें रहते हुए भी अंधे हो जाते हैं। इन तीनों स्थितियों में मनुष्य का होश-हवास दुरुस्त नहीं रहता। देखने में वह स्वस्थ और भलाचंगा दीखता है पर वस्तुतः उसकी आंतरिक स्थिति पागलों, बालकों, रोगियों तथा उन्मत्तों जैसी हो जाती है। ऐसी स्थिति मनुष्य के लिए विपत्ति, त्रास, अनिष्ट और अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती।

इसलिए गायत्री के 'भू' शब्द का संदेश है कि इन आवेशों और उत्तेजनाओं से बचो। दूरदर्शिता, विवेक, शांति, स्थिरता से काम लो। बदली की छाया की तरह रोज घटित होती रहने वाली रंग-बिरंगी घटनाओं से अपनी आंतरिक शांति को नष्ट न होने दो। मस्तिष्क को स्वस्थ रखो, चित्त को शांत रहने दो। आवेश की उत्तेजना से नहीं, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर अपनी विचारधारा और कार्य-प्रणाली को चलाओ।

गो—गोप्या स्वीया मनोवृत्तिर्नासहिष्णुर्नरो भवेत्।
स्थितिमन्यस्य संवीक्ष्य तदनुरूपतां चरेत् ॥ ११ ॥

अपने मनोभावों को नहीं छिपाना चाहिए। मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिए। दूसरे की स्थिति को देखकर उसके अनुसार आचरण करे।

अपने मनोभाव और मनोवृत्ति को छिपाना छल, कपट और पाप है। जैसे भीतर हैं वैसा ही बाहर प्रकट कर दिया जाए तो वह पाप-निवृत्ति का सबसे बड़ा राजमार्ग है। स्पष्ट कहने वाले, खरी कहने वाले, जैसा पेट में है वैसा मुँह से कहने वाले लोग, चाहे किसी को कितने ही बुरे क्यों न लगें, पर वे ईश्वर के आगे, आत्मा के आगे अपराधी नहीं ठहरते। जो आत्मा पर असत्य का आवरण

चढ़ाते रहते हैं, वे एक प्रकार के आत्म हत्यारे हैं। कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक अपराधी कार्य करता हो तो भी वह अपने कुछ ऐसे आत्मीयजन विश्वासी जीव अवश्य रखना चाहता है, जिनके आगे अपने सब रहस्य प्रकट करके मन हलका कर लिया करे। ऐसे आत्मीय मित्र और गुरुजन हर मनुष्य को नियुक्त कर लेने चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार विभिन्न होते हैं। इसलिए सबका सोचना एक प्रकार का नहीं हो सकता। इस तथ्य को समझते हुए दूसरों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराग्रही या विरोधी मान लेना उचित नहीं। ऐसी असहिष्णुता झगड़ों की जड़ है। एकदूसरे के दृष्टिकोण के अंतर को समझते हुए यथासंभव समझौते का मार्ग निकालना चाहिए। फिर भी जो मतभेद रह जाए उसे पीछे धीरे-धीरे सुलझते रहने के लिए छोड़ देना चाहिए।

संसार में सभी प्रकृति के मनुष्य हैं। मूर्ख-विद्वान, रोगी-स्वस्थ, पापी-पुण्यात्मा, कायर-वीर, कटुवादी-नम्र, चोर-ईमानदार, निंदनीय-आदरास्पद, स्वधर्मी-विधर्मी, दयापात्र-दंडनीय, शुष्क-सरस, भोगी-त्यागी आदि परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं। उनकी स्थिति को देखकर तदनुसार उनसे भाषण, व्यवहार, सहयोग करे। उनकी स्थिति के आधार पर ही उनके लिए शक्य सलाह दे। सबसे एक समान व्यवहार नहीं हो सकता और न सब एक मार्ग पर चल सकते हैं। यह सब बातें 'गो' शब्द हमें सिखाता है।

दे—देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्यखिलानि वै।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम्॥ १२॥

मनुष्य को अपनी संपूर्ण इंद्रियाँ अपने वश में करनी चाहिए। ये असंयत इंद्रियाँ स्वामी को खा जाती हैं।

इंद्रियाँ आत्मा के औजार हैं, घोड़े हैं, सेवक हैं। परमात्मा ने इन्हें इसलिए प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकता पूरी हों और सुख मिले। सभी इंद्रियाँ बड़ी उपयोगी हैं। सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष एवं आनंद प्रदान करना है। यदि उनका सदुपयोग हो तो क्षण-क्षण पर मानव जीवन का मधु-रस चखता हुआ प्राणी अपने भाग्य को सराहता रहेगा।

किसी इंद्रिय का भोग पाप नहीं है। सच तो यह है कि अंतःकरण की विविध क्षुधाओं को, तृषाओं को तृप्त करने का इंद्रियाँ एक माध्यम हैं। जैसे पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्मशरीर की क्षुधाएँ उचित रीति से तृप्त न की जाती रहें तो आंतरिक क्षेत्र का संतुलन बिगड़ जाता है और अनेक मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं।

इंद्रिय भोगों की जगह-जगह निंदा की जाती है और वासनाओं को दमन करने का उपदेश दिया जाता है। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियंत्रित इंद्रियाँ स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए संकट उत्पन्न करके भी मनमानी करती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार के इंद्रिय-गुलाम हैं। वे अपनी वासना पर काबू नहीं रख सकते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

गायत्री का 'दे' शब्द आत्मनियंत्रण का उपदेश देता है। इंद्रियों पर हमारा काबू हो, वे अपनी मनमानी करके हमें चाहे जब चाहे जिधर को घसीट न सकें, बल्कि हम जब आवश्यकता अनुभव करें, तब उचित आंतरिक भूख बुझाने के लिए उनका प्रयोग कर सकें। यही इंद्रिय निग्रह है। निग्रहीत इंद्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियंत्रित इंद्रियों से बढ़कर शत्रु और कोई नहीं है।

व—वस नित्यं पवित्रः सन् बाह्यतोऽभ्यन्तरस्तथा।
यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता॥ १३॥

मनुष्य को बाहर और भीतर सब तरफ से पवित्र होकर रहना चाहिए, क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।

पवित्रता—अहा! कितना शीतल, शांतिदायक, चित्त को प्रसन्न और हलका करने वाला शब्द है। कूड़ा, करकट, मैल, विकार, पाप, गंदगी, दुर्गंध, सड़न, अव्यवस्था, घिच-पिच को झाड़-बुहारकर स्वच्छता, सफाई, पवित्रता स्थापित कर ली जाती है तो पहली और पीछे की स्थिति में कितना भारी अंतर हो जाता है?

मलिनता अंध तामसिकता का प्रतीक है। आलस्य और दारिद्र्य, पाप और पतन जहाँ रहते हैं, वहाँ मलिनता या गंदगी का निवास होता है। जो इस प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन सबमें गंदा और अस्तव्यस्तता भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्त्विकता होगी, वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जाएगा। सफाई, सादगी, सजावट, व्यवस्था का नाम ही पवित्रता है।

मलिनता से घृणा होनी चाहिए, पर उसे हटाने या उठाने में रुचि होनी चाहिए। जो गंदगी को छूने या उसे उठाने-हटाने से हिचकिचाते हैं, वे सफाई नहीं रख सकते। मन में, शरीर में, वस्त्रों में, सामान में हर घड़ी गंदगी पैदा होती है। निरंतर टूट-फूट एवं जीर्णता के लक्षण प्रकट होते रहते हैं। यदि बार-बार, जल्दी-जल्दी उस मलिनता का परिशोधन न किया जाए, टूट-फूट का जीर्णोद्धार न किया जाए तो गंदगी बढ़ती जाएगी और सफाई चाहने की इच्छा केवल एक कल्पना मात्र बनी रह जाएगी।

गायत्री का 'व' शब्द स्वच्छता का संदेश देता है। स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ निवास, स्वच्छ सामान, स्वच्छ जीविका, स्वच्छ विचार, स्वच्छ व्यवहार जिसमें इस प्रकार की स्वच्छताएँ

निवास करती हैं, वह पवित्रात्मा मनुष्य निष्पाप जीवन व्यतीत करता हुआ पुण्य गति को प्राप्त करता है।

स्य—स्यन्दनं परमार्थस्य परार्थो हि बुधैर्मतः।
योऽन्यान् सुखयते विद्वान् तस्य दुःखं विनश्यति॥ १४॥

दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करना परमार्थ का रथ है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। जो विचारवान दूसरे लोगों को सुख देता है, उसका दुःख स्वतः नष्ट हो जाता है।

लोक-व्यवहार के तीन मार्ग हैं—(१) अर्थ—जिसमें दोनों पक्ष समान रूप से आदान-प्रदान करते हैं, इसे व्यापार, नौकरी, कीमत-विनिमय आदि कहा जाता है, (२) स्वार्थ—दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना लाभ करना, (३) परमार्थ—अपनी हानि करके भी दूसरों को लाभ पहुँचाना। स्वार्थ में चोरी, ठगी, अपहरण, शोषण, बेईमानी आदि आते हैं। परमार्थ दान, सेवा, सहायता, शिक्षा आदि कार्यों को कहा जाता है।

अर्थ (जीविका) हमारा नित्य कर्म है। उसके बिना जीवनयात्रा भी नहीं चल सकती। आहार, निद्रा, भोजन, मल-त्याग आदि कार्य समान स्वाभाविक होने के कारण उसका विधि-निषेध कुछ नहीं है। वह तो हर एक को करना ही होता है। स्वार्थ त्याज्य है, निंदनीय है, पाप-मूलक है, उससे यथासंभव बचते ही रहना चाहिए। परमार्थ धर्म-कार्य है, इससे अपने को त्याग का, उदारता का, लोकहित का अभ्यास बढ़ता है और आत्मकल्याण का धर्ममार्ग प्रशस्त होता है तथा उससे दूसरों का लाभ होने से वह प्रसन्न होकर बदले में प्रत्युपकार करते हैं, प्रशंसा तथा आदर करते हैं।

गायत्री का 'स्य' शब्द परमार्थ के लिए प्रेरणा देता है। हर मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अर्थ उपार्जन करता हुआ स्वार्थ से बचे और परमार्थ के लिए यथासंभव प्रयत्नशील रहे। अपना पेट तो

पशु-पक्षी भी भर लेते हैं, प्रशंसनीय वह है जिसके द्वारा दूसरे भी लाभ उठावें।

धी—धीरस्तुष्टो भवेन्नैव त्वेकस्यां हि समुन्नतौ।
क्रियतामुन्नतिस्तेन सर्वास्वाशासु जीवने॥ १५॥

धीर पुरुष को एक ही प्रकार की उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए। मनुष्य को जीवन की सभी दिशाओं में उन्नति करनी चाहिए।

जैसे शरीर के कई अंग हैं और उन सभी का पुष्ट होना आवश्यक होता है, वैसे ही जीवन की अनेक दिशाएँ हैं और उन सभी का विकास होना सर्वतोमुखी उन्नति का चिह्न है। यदि पेट बढ़ जाए और हाथ-पाँव बहुत पतले हो जाएँ तो इस विषमता से प्रसन्नता न होकर चिंता ही बढ़ेगी, इसी प्रकार यदि कोई आदमी केवल धनी, केवल विद्वान या केवल पहलवान बन जाए तो यह उन्नति पर्याप्त न होगी। वह पहलवान किस काम का जो दाने-दाने को मोहताज हो, वह विद्वान किस काम का जो रोगों से ग्रस्त रहता हो, वह धनी किस काम का जिसके पास न विद्या न तंदुरुस्ती।

केवल एक ही दिशा में उन्नति के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना और अन्य दिशाओं की उपेक्षा करना, उनकी ओर से उदासीन रहना उचित नहीं। जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय, आठ दिशाएँ हैं वैसे ही जीवन की भी आठ दिशाएँ हैं, आठ बल हैं—(१) स्वास्थ्यबल, (२) विद्याबल, (३) धनबल, (४) मित्रबल, (५) प्रतिष्ठाबल, (६) चातुर्यबल, (७) साहसबल, (८) आत्मबल। इन आठों का यथोचित मात्रा में संचय होना चाहिए। जैसे किसान खेत को सब ओर से रखाता है, जैसे चतुर सेनापति युद्ध-क्षेत्र के सब मोर्चों की रक्षा करता है, वैसे ही जीवन-युद्ध के यह आठों मोर्चे सावधानी के साथ ठीक रखे

जाने चाहिए। जिधर भी भूल रखी जाएगी उधर से ही शत्रु का आक्रमण होने और परास्त होने का भय रहेगा।

गायत्री का 'धी' शब्द हमें सजग करता है कि आठों बल बढ़ाओ, आठों मोर्चों पर सजग रहो, अष्टभुजी दुर्गा की उपासना करो, आठों दिशाओं की रखवाली करो, तभी सर्वांगीण उन्नति हो सकेगी। सर्वांगीण उन्नति ही स्वस्थ उन्नति है, अन्यथा किसी एक अंग को बढ़ा लेना और अन्यों को दुर्बल रखना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

म—महेश्वरस्य विज्ञाय नियमान्न्यायसंयुतान्।
तस्य सत्तां च स्वीकुर्वन् कर्मणा तमुपासयेत्॥ १६॥

परमात्मा के न्यायपूर्ण नियमों को समझकर और उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए कर्म से उस परमात्मा की उपासना करे।

परमात्मा के नियम न्यायपूर्ण हैं। सृष्टि में उसके प्रधान कार्य दो ही हैं—(१) संसार को नियमबद्ध रखना, (२) कर्मों का न्यायानुकूल फल देना। इन दोनों ईश्वरीय प्रधान कार्यों को समझकर जो अपने को नियमानुसार बनाता है, प्रकृति के कठोर नियमों को ध्यान में रखता है, सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, लोकहितकारी, कानूनों, कायदों को मानता है, वह एक प्रकार से ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो यह समझता है कि न्याय की अदालत में खड़ा होना ही पड़ेगा और बुरे-भले कर्मों के अनुसार दुःख-सुख की प्राप्ति अनिवार्यतः होगी, वह ईश्वर के समीप पहुँचता है। काम करने पर ही उसकी उजरत (मजदूरी) मिलती है। जो पसीना बहायेगा, परिश्रम करेगा, पुरुषार्थ, उद्योग और चतुरता का परिचय देगा उसे उसके प्रयत्न के अनुसार साधन-सामग्री में सफलता मिलेगी।

परमात्मा की पूजा-उपासना की जितनी साधनाएँ हैं, जितने कर्मकांड हैं उनका तात्पर्य यही है कि साधक परमात्मा के

अस्तित्व पर, उसकी सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता पर विश्वास करे। यह विश्वास जितना ही दृढ़ होगा, उतना ही उसे परमात्मा का नियम और न्याय स्मरण रहेगा। इन दोनों की कठोरता और निश्चयता पर विश्वास होना, सत्मार्ग पर चलने की प्रेरणा का प्रधान हेतु है। जो समझता है कि जल्दी या देर-सवेर में तुरंत या विलंब से, कर्म का फल मिले बिना नहीं रह सकता, वह आलसी या कुकर्मी नहीं हो सकता। जो आलस्य और कुकर्म से जितना ही बचता है, वह ईश्वर का उतना ही बड़ा भक्त है। गायत्री का 'म' अक्षर ईश्वर-उपासना के रहस्य का स्पष्टीकरण करता है और बताता है कि ईश्वरीय नियम एवं न्याय का ध्यान रखते हुए हम सत्पथ पर चलें।

हि—हितं मत्वा ज्ञानकेन्द्रं स्वातन्त्र्येण विचारयेत्।
नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित् कोऽपि कस्यचित्॥ १७॥

हितकारी ज्ञानकेंद्र को समझकर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करे। कभी भी कोई किसी का अंधानुसरण न करे।

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुसार मानव जाति के समस्याओं के हल और सुविधा के लिए विविध प्रकार के नियम, धर्मादेश, कानून और प्रथाओं का निर्माण एवं परिचालन होता है। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रथाओं एवं मान्यताओं का परिवर्तन होता रहता है। आदिकाल से लेकर अब तक अनेकों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ, धर्म-धारणाएँ, रीति-रिवाजें तथा परंपराएँ बदल चुकी हैं। समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उन सभी का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यही कारण है कि उनमें परस्पर विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं। वास्तव में विरोध कुछ नहीं है। विभिन्न समयों पर विभिन्न कारणों से जो परिवर्तन रीति-नीति में होता रहता है, वह पुस्तकों में लिखा तो है

पर यह स्पष्ट नहीं है कि ये पुस्तकें और प्रथाएँ किस-किस काल में रही हैं। यदि उनके काल का उल्लेख होता तो ग्रंथों में परस्पर विरोध न दिखाई पड़ता और पाठक समझ जाते कि देश, काल, परिस्थिति के कारण यह अंतर है, विरोध नहीं।

समाज के सुसंचालन के लिए प्रथाएँ मनुष्य जाति की सुव्यवस्था के लिए बनाई गई हैं। ऐसा नहीं कि उन प्रथाओं को अपरिवर्तनशील समझकर समाज और जाति के लिए उन्हें अमिट मान लिया जाए। संसार में आदिकाल से बराबर परिवर्तन होता जा रहा है। कोई रिवाजें आज के लिए अनुपयुक्त हैं तो ऐसा नहीं कि परस्पर मोह के कारण उनका अंधानुकरण किया ही जाए।

गायत्री का 'हि' अक्षर कहता है कि मनुष्य समाज के हित का ध्यान रखते हुए देश, काल और विवेक के अनुसार प्रथाओं को, परंपराओं को बदला जा सकता है। आज हिंदू समाज में ऐसी अगणित प्रथाएँ प्रचलित हैं जिन्हें बदलने की अत्यधिक आवश्यकता है।

धि—धिया मृत्युं स्मरन् मर्म जानीयाज्जीवनस्य च।
तदा लक्ष्यं समालक्ष्य पादौ सन्ततमाक्षिपेत्॥ १८॥

बुद्धि से मृत्यु का ध्यान रखे और जीवन के मर्म को समझे, तब अपने लक्ष्य की ओर निरंतर अपने पैरों को चलाए, अर्थात निरंतर अपने लक्ष्य की ओर बढ़े।

जीवन और मृत्यु के रहस्य को विवेकपूर्वक गंभीरता से समझना आवश्यक है। मृत्यु से कोई डरने की बात नहीं, पर उसे ध्यान में रखना जरूरी है। न जाने किस समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो और कूँच की तैयारी करनी पड़े। इसलिए जो समय हाथ में है, उसे अच्छे से अच्छे उपयोग में लगाना चाहिए। धन, यौवन आदि अस्थिर हैं। छोटे से रोग या हानि से इनका विनाश हो सकता है, इसलिए इसका अहंकार न करके,

दुरुपयोग न करके ऐसे कार्यों में लगाना चाहिए जिससे भावी जीवन में सुख-शांति की अभिवृद्धि हो।

जीवन एक अभिनय है और मृत्यु उसका पटाक्षेप है। इस अभिनय को हमें इस प्रकार करना चाहिए, जिससे दूसरों की प्रसन्नता बढ़े और अपनी प्रशंसा हो। नाटक या खेल के समय सुखपूर्ण और दुःखभरे अनेकों अवसर आते हैं, पर अभिनयकर्ता समझता है कि यह केवल खेलमात्र हो रहा है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है, उस खेल के समय होने वाले दुःख के अभिनय में न दुखी होता है और न सुख के अभिनय में सुखी। वरन अपना कौशल प्रदर्शित करने में, अपनी नाट्य सफलता में प्रसन्नता अनुभव करता है। जीवन नाटक का भी अभिनय इसी प्रकार होना चाहिए। हर मनुष्य पर आएदिन आने वाली संपदा-विपदा का कुछ महत्त्व नहीं, उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर अपना कर्म-कौशल दिखाने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए। मृत्यु जीवन का अंतिम अतिथि है। उसके स्वागत के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। अपनी कार्य-प्रणाली ऐसी रखनी चाहिए कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो तो तैयारी में कोई कमी अनुभव न करनी पड़े।

गायत्री का 'वि' शब्द जीवन और मृत्यु के सत्य को समझाता है। जीवन को इस प्रकार बिताओ जिससे मृत्यु के समय पश्चात्ताप न हो। जो वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को उत्तम बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे जीवन और मृत्यु का रहस्य भली प्रकार जानते हैं।

यो—यो धर्मो जगदाधारः स्वाचरणे तमानय।
मा विडम्बय तं सोऽस्ति ह्येको मार्गे सहायकः॥ १९॥

जो धर्म संसार का आधार है, उस धर्म को अपने आचरण में लाओ। उसकी विडंबना मत करो। तुम्हारे मार्ग में वह एक ही अद्वितीय सहायक है।

धर्म संसार का आधार है। उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा हुआ है। यदि धर्माचरण उठ जाए और सब लोग पूर्ण रूप से अधर्मी बन जाएँ तो एक क्षण के लिए भी कोई प्राणी चैन से न बैठ सके। सबको अपने प्राण बचाने और दूसरों का अपहरण करने की चक्की के दोहरे पाटों के बीच पिसना पड़ेगा। आज अनेक व्यक्ति लुक-छिपकर अधर्माचरण करते हैं, पर उन्हें भी यह साहस नहीं होता कि प्रत्यक्षत: अपने को अधर्मी घोषित करें या अधर्म को उचित ठहराने की वकालत करें। बुराइयाँ भी भलाई की आड़ लेकर की जाती हैं। इससे प्रकट है कि धर्म ऐसी मजबूत चीज है कि उसी का आश्रय लेकर, आडंबर ओढ़कर, दुष्ट-दुराचारी भी बेड़ा पार लगाते हैं। ऐसे मजबूत आधार को ही हमें अपना अवलंबन बनाना चाहिए।

कई आदमी धर्म को कर्मकांड का, पूजा-पाठ या तीर्थ, व्रत, दान आदि का विषय मानते हैं और कुछ समय इनमें लगाकर शेष समय को नैतिक-अनैतिक कैसे ही कार्य करने के लिए स्वतंत्र समझते हैं। यह भ्रांत धारणा है। धर्म, पूजा-पाठ तक ही सीमित रहने वाली वस्तु नहीं है वरन उसका उपयोग तो अपनी प्रत्येक विचारधारा और क्रिया-प्रणाली में पूरी तरह होना चाहिए।

गायत्री का 'यो' अक्षर बताता है कि धर्म की विडंबना मत करो, उसे आडंबर का आचरण मत बनाओ, वरन उसे अपने जीवन में घुला डालो। जो कुछ सोचो, जो कुछ करो वह धर्मानुकूल होना चाहिए। शास्त्र की उक्ति है कि 'रक्षा किया हुआ धर्म अपनी रक्षा करता है और धर्म को जो मारता है धर्म उसे मार डालता है।' इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमें धर्म को ही अपनी जीवन-नीति बनाना चाहिए।

यो—योजनं व्यसनेभ्यः स्यात्तानि पुंसस्तु शत्रवः।
मिलित्वैतानि सर्वाणि समये घ्नन्ति मानवम्॥ २०॥

व्यसनों से योजन भर दूर रहे अर्थात व्यसनों से बचा रहे; क्योंकि वे मनुष्य के शत्रु हैं। ये सब मिलकर समय पर मनुष्य को मार देते हैं।

व्यसन मनुष्य के प्राणघातक शत्रु हैं। मादक पदार्थ व्यसनों में प्रधान हैं। तंबाकू, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, शराब आदि नशीली चीजें एक से एक बढ़कर हानिकारक हैं। इससे क्षणिक उत्तेजना आती है। जिन लोगों की जीवनीशक्ति क्षीण एवं दुर्बल हो जाती है, अपने को शिथिल तथा अशक्त अनुभव करते हैं। उसका उपचार, आहार-विहार में प्रकृति अनुकूल परिवर्तन करके शक्ति-संचय की वृत्ति द्वारा होना चाहिए। परंतु भ्रांत मनुष्य दूसरा मार्ग अपनाते हैं। वे थके घोड़े को चाबुक मार-मारकर दौड़ाने का उपक्रम करके चाबुक को शक्ति का केंद्र मानने की भूल करते हैं। नशीली चीजें मस्तिष्क को मूर्च्छित कर देती हैं, जिससे मूर्च्छाकाल में शिथिलता की पीड़ा नहीं होती। दूसरी ओर वे चाबुक मार-मारकर उत्तेजित करने की क्रिया आरंभ करती हैं। नशीली चीजों को सेवन करने वाला ऐसा समझता है कि वे मुझे बल दे रही हैं, पर वस्तुतः उससे बल नहीं मिलता वरन रही-बची हुई शक्तियाँ भड़ककर बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती हैं और मादक द्रव्य सेवन करने वाला व्यक्ति दिन-दिन क्षीण होते-होते अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है। व्यसन मित्र के वेश में शरीर में घुसते हैं और शत्रु बनकर उसे मार डालते हैं।

नशीले पदार्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी आदतें हैं जो शरीर और मन को हानि पहुँचाती हैं, पर आकर्षण और आदत के कारण मनुष्य गुलाम बन जाता है। वे उससे छोड़े नहीं छूटते। सिनेमा, नाचरंग, व्यभिचार, मुर्गा-तीतर-बटेर लड़ाना आदि कितनी ही हानिकारक और निरर्थक आदतों के लोग शिकार बनकर अपना धन, समय और स्वास्थ्य बरबाद करते हैं।

गायत्री का 'यो' अक्षर व्यसनों से दूर रहने का आदेश करता है। क्योंकि यही शरीर और मन दोनों का नाश करने वाले हैं। व्यसनी मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नीच मार्ग की ओर ही चलती हैं।

नः—नः शृण्वेकामिमां वार्तां 'जागृतस्त्वं सदा भव'।
सप्रमादं नरं नूनं ह्याक्रामन्ति विपक्षिणः॥ २१॥

हमारी यह एक बात सुनो कि तुम हमेशा जाग्रत रहो, क्योंकि निश्चय ही सोते हुए मनुष्य पर दुश्मन आक्रमण कर देते हैं।

असावधानी, आलस्य, बेखबरी, अदूरदर्शिता ऐसी भूलें हैं जिन्हें अनेक आपत्तियों की जननी कह सकते हैं। बेखबर आदमी पर चारों ओर से हमले होते हैं। असावधानी में ऐसा आकर्षण है, जिससे खिंच-खिंचकर अनेक प्रकार की हानियाँ, विपत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं। असावधान, आलसी पुरुष एक प्रकार का अर्द्धमृत है। मरी हुई लाश को पड़ी देखकर जैसे चील, कौए, कुत्ते, शृगाल, गिद्ध दूर-दूर से दौड़कर, वहाँ जमा हो जाते हैं, वैसे ही असावधान पुरुष के ऊपर आक्रमण करने वाले तत्त्व कहीं न कहीं से आकर अपनी घात लगाते हैं।

जो स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जागरूक नहीं है उसे देर-सवेर में बीमारियाँ आ दबोचेंगी। जो नित्य आते रहने वाले उतार-चढ़ावों से बेखबर है, वह किसी दिन दिवालिया बनकर रहेगा। जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर सरीखे मानसिक शत्रुओं की गतिविधियों की ओर से आँखें बंद किए रहता है वह कुविचारों और कुकर्मों के गर्त में गिरे बिना न रह सकेगा। जो दुनिया के छल, फरेब, झूठ, ठगी, लूट, अन्याय, स्वार्थपरता, शैतानी आदि की ओर से सावधान नहीं रहता उसे उल्लू बनाने वाले, ठगने वाले, सताने वाले अनेकों पैदा हो जाते हैं। जो जागरूक नहीं, जो अपनी ओर से सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता उसे दुनिया के शैतानी तत्त्व बुरी तरह नोंच खाते हैं।

इसलिए गायत्री का 'नः' अक्षर हमें सावधान करता है कि होशियार रहो, सावधान रहो, जागते रहो कि तुम्हें शत्रुओं के आक्रमण का शिकार न बनना पड़े। विवेकपूर्वक त्याग करना और उदारता से परोपकार करना तो उचित है पर अपनी बेवकूफी से दूसरे बदमाशों का शिकार बनना सर्वथा अवांछनीय और पापमूलक है। जहाँ अच्छाई की ओर, उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न आवश्यक है, वहाँ बुराई से सावधान रहने, बचने और उससे संघर्ष करने की भी आवश्यकता है।

प्र—प्रकृत्या तु भवोदारो नानुदारः कदाचन।
चिन्तयोदारदृष्ट्यैव तेन चित्तं विशुद्ध्यति॥ २२॥

स्वभाव से ही उदार बनो, कभी भी अनुदार मत बनो, उदार दृष्टि से ही विचार करो, ऐसा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है।

अपनी बात, अपनी रीति, अपनी रिवाज, अपनी मान्यता, अपनी अक्ल को ही सही मानना और दूसरे सब लोगों को मूर्ख, भ्रांत, बेईमान ठहराना अनुदारता का लक्षण है। अपने लाभ के लिए चाहे सारी दुनिया का विनाश होता हो तो हुआ करे, ऐसी नीति अनुदार व्यक्तियों की होती है। वे सिर्फ अपनी सुविधा और इच्छा को सर्वोपरि रखते हैं। दूसरों की कठिनाई और असुविधा का उन्हें जरा भी ध्यान नहीं होता।

ऐसी अनुदारता पशुता की सूचक है। जिद्दी, दुराग्रही, घमंडी, खुदगर्ज, संकीर्ण भावना वाले मनुष्यों की वाणी बड़ी रूखी, विचार-धारा बड़ी शुष्क एवं क्रिया बड़ी कर्कश होती है। गायत्री का संदेश सुनने और समझने वालों को ऐसा अनुदार कदापि न होना चाहिए। दूसरों के विचारों, तर्कों, स्वार्थों और परिस्थितियों को समझकर मतभेद होते हुए भी उनका आदर करना सीखना चाहिए। दूसरे लोग अपनी सुविधा और स्थिति के अनुसार किसी बात को सोचते

हैं। जब हम अपनी बात को ठीक समझने के लिए दृढ़ हैं तो दूसरे को वैसी दृढ़ता के लिए क्यों कोसना चाहिए?

गायत्री का 'प्र' अक्षर कहता है कि दूसरों की भूलों और कमियों के प्रति हमें कठोर नहीं, उदार होना चाहिए। उनकी उचित इच्छाओं, आवश्यकताओं और माँगों के प्रति हमारी सहानुभूति होनी चाहिए। दूसरे जिस स्थिति में हैं, उस स्थिति में हम होते तो कैसी इच्छा करते? यह सोचकर उदार दृष्टि से उनके साथ व्यवहार करना चाहिए और मतभेदों को संघर्ष का कारण न बनाकर जितने अंशों में एकता मिल सके, उसे प्रेम का निमित्त बनाना चाहिए।

चो—चोदयत्येव सत्सङ्गो धियमस्य फलं महत्।
स्वमतः सज्जनैर्विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा॥ २३॥

सत्संग बुद्धि को प्रेरणा देता है। इस सत्संग का फल महान है। इसलिए विद्वान अपने आप को हमेशा सत्पुरुषों से घिरा हुआ रखे अर्थात हमेशा सज्जनों का संग करे।

मनुष्य का मस्तिष्क निर्मल जल के समान है। वातावरण, संस्कार और अनुकरण के साधन उसे विभिन्न दिशाओं में मोड़ते हैं। पानी का बहाव नाव को बहा ले जाता है। हवा जिधर को चलती है, पतंग उधर ही उड़ती है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, रमता है उधर ही उसकी मनोवृत्तियाँ चलने लगती हैं और धीरे-धीरे वह उसी ढाँचे में ढलने लगता है। एक जैसे दो बालकों को जन्म से ही, एक को कसाई के यहाँ रखा जाए तथा एक को ब्राह्मण के यहाँ, तो बड़े होने पर उन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव में जमीन आसमान का अंतर होगा, यह संगति का ही प्रभाव है।

जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को

अपना मित्र बनाएँ, उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार तथा संघर्ष रखें। संभव हो तो परामर्श, उपदेश और पथ-प्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें। इस प्रकार की स्थिति में रहने से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वैसा ही प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है और उसी दिशा में चलने के लिए प्रेरणा मिलती है। कुसंग में रहने से, बुरे वातावरण के संपर्क में आने से मलिनता बढ़ती है। इसलिए उधर से मुँह मोड़े रहना ही उचित है।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का संपर्क बढ़ाने के अतिरिक्त अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी वैसा ही उपयोगी है। अच्छी पुस्तकें पढ़कर भी सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है। एकांत में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिंतन और मनन करके तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाए रहने से भी आत्म-सत्संग होता है। यह सभी सत्संग आत्मोन्नति के लिए आवश्यक है। गायत्री का 'यो' अक्षर सत्संग का महत्त्व बताता है और उसके लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश करता है।

द—दर्शनं ह्यात्मनः कृत्वा जानीयादात्मगौरवम्।
ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नतिपथं नयेत्॥ २४॥

आत्मा का दर्शन करके आत्मा के गौरव को पहचानो। उसको जानकर तब आत्मा को पूर्ण उन्नति के मार्ग पर ले चलो।

मनुष्य-शरीर नाशवान और तुच्छ है। उसके हानि-लाभ भी तुच्छ तथा महत्त्वहीन हैं, पर उसकी आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण महान है। उसकी महिमा और महत्ता इतनी बड़ी है कि किसी से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन आत्मा की विशेषताओं के कारण है। जिसकी आत्मा जितनी अधिक बलवान होती है, वह उतना ही बड़ा महापुरुष कहा जाता है।

जिन कार्यों से हमारी प्रतिष्ठा, साख, सम्मान, आदर, श्रद्धा बढ़ती है, वे ही आत्मगौरव को बढ़ाने वाले हैं। प्रतिष्ठा सबसे बड़ी संपत्ति है, फिर आत्मा की प्रतिष्ठा का मूल्य कम तो हो ही नहीं सकता। इतनी बड़ी अमानत को हमें सब प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए। लोग संपत्ति द्वारा बनी हुई प्रतिष्ठा को गिरते या नष्ट होते देखकर तिलमिला जाते हैं और उस दुःख से इतने दुखी हो जाते हैं कि कोई-कोई तो आत्महत्या भी कर डालते हैं। फिर आत्मप्रतिष्ठा, आत्मगौरव, आत्मसम्मान तो और भी ऊँची चीज है, उसे तो किसी भी मूल्य पर न गिरने देना चाहिए।

जिससे आत्मगौरव घटता हो, आत्मग्लानि होती हो, आत्म-हनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, भोग, पद को लेने की अपेक्षा भूखा और दीन-हीन रहना कहीं अच्छा है। गायत्री का 'ह' अक्षर आत्मसम्मान की रक्षा और आत्महनन की निवृत्ति के लिए हमें बड़े से बड़ा त्याग करने में भी न झिझकने के लिए तैयार रहने को कहता है। जिसके पास आत्मधन है, वही सबसे बड़ा धनी है। जिसका आत्मगौरव सुरक्षित है, वह इंद्र के समान बड़ा पदवीधारी है,भले ही चाँदी-ताँबे के टुकड़े उसके पास कम मात्रा में ही क्यों न हों!

यत्—यायात्स्वोत्तरदायित्वं निर्वहन् जीवने पिता।
कुपितापि तथा पापः कुपुत्रोऽस्ति यथा मतः॥ २५॥

पिता अपने उत्तरदायित्व को निभाता हुआ जीवन में चले, क्योंकि कुपिता भी उसी प्रकार पापी है, जैसे कुपुत्र होता है।

जिनके हाथ में प्रबंध, व्यवस्था, शासन, स्वामित्व, बल होते हैं, वे प्रायः उसका यथोचित उपयोग नहीं करते। ढील, शिथिलता, लापरवाही भी वैसी ही बुराई है, जैसी कि स्वार्थपरता एवं अनुचित लाभ उठाने की नीति। इसका परिणाम बुरा ही होता है। अकसर

पुत्र, शिष्य, स्त्री, प्रजाजन, सेवक आदि के बिगड़ जाने, बुरे होने, अवज्ञा करने, अनुशासनहीन होने के उदाहरण बहुत सुने जाते हैं। इन बुराइयों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पिता, गुरु, पति, शासक, स्वामी आदि पर भी है, क्योंकि प्रबंध-शक्ति उनके हाथ में होती है। बुद्धिमत्ता और अनुभव अधिक होने के कारण उत्तरदायित्व उन्हीं का अधिक होता है। व्यवस्था में शिथिलता डालने, बुरे मार्ग पर चलने का अवसर देने, नियंत्रण में सावधानी न रखने से भी ऐसी घटनाएँ प्रायः घटित होती हैं।

प्रत्येक संबंध में दो पक्ष होते हैं। दोनों पक्षों को यथोचित कर्त्तव्य-पालन करने से ही वे संबंध स्थिर और सुदृढ़ रहते हैं तो भी समझदार पक्ष का उत्तरदायित्व विशेष है। उसे अपने पक्ष पर अधिक मजबूती से खड़ा रहना चाहिए और छोटे पक्ष के साथ उदार बरताव करना चाहिए। लोग अपने-अपने अधिकार पर अधिक जोर देते हैं और अपने कर्त्तव्य से जी चुराते हैं, यही कलह का कारण है। यदि दोनों ओर से अपने-अपने अधिकारों की उपेक्षा की जाए तो संघर्ष का अवसर ही न आवे और संबंध बड़ी मधुरता से निभते चले जाएँ।

'यो' शब्द पिता-पुत्र में, बड़े-छोटे में अच्छे संबंध रखने का नुसखा यह बताता है कि दोनों ओर से अधिकार की माँग मंद रखी जाए और कर्त्तव्य का दृढ़ता से पालन हो। बड़ा पक्ष छोटे पक्ष को सँभालने के लिए अधिक सावधानी और उदारता बरते।

❐

हमारा युग निर्माण सत्संकल्प

- ✧ हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।
- ✧ शरीर को भगवान का मंदिर समझकर आत्मसंयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।
- ✧ मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाए रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।
- ✧ इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का सतत अभ्यास करेंगे।
- ✧ अपने आपको समाज का एक अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।
- ✧ मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।
- ✧ समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।
- ✧ चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एवं सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।
- ✧ अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।
- ✧ मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।
- ✧ दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं।
- ✧ नर-नारी के प्रति परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।
- ✧ संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।
- ✧ परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।
- ✧ सज्जनों को संगठित करने, अनीति से लोहा लेने और नवसृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।
- ✧ राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रांत, संप्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।
- ✧ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है—इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनाएँगे, तो युग अवश्य बदलेगा।
- ✧ 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा', 'हम सुधरेंगे-युग सुधरेगा' इस तथ्य पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)